भारतीय सांस्कृतिक वाङमय में शिल्प वर्ग

* डॉ0 सुनीता

भारत में प्राचीन काल से ही शिल्प जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है। यह सुखी जीवन जीने के लिये एक कला साधन ही है। वस्तुतः शिल्प शब्द का प्रयोग हस्त कला के लिये किया जाता है। हाथ से बनायी जाने वाली सभी वस्तुयें शिल्प कला के अन्तर्गत आती हैं, जैसे दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं को तैयार करने की कला, वास्तुकला, कृषि कार्य में प्रयुक्त होने वाले उपकरण बनाने की कला, ललित कला आदि। इस प्रकार शिल्प का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि यदि यह कहा जाय कि शिल्प का सम्बन्ध जीवन में काम आने वाली सभी वस्तुओं से है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

शिल्प (शिल्+पक्) अर्थात् ललित कला, यान्त्रिक कार्य कुशलता अथवा कारीगरी[1], शारीरिक कार्य कुशलता, दस्तकारी आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहां कला का अर्थ है, कुशलता अथवा क्षमता, जिसके अन्तर्गत चौंसठ कलायें ली जा सकती है। वस्तुतः कला का सम्बन्ध सच्ची एवं सूक्ष्म मानसिक दृष्टि से है जबकि शिल्प अथवा कारीगरी का सम्बन्ध शरीर के वाह्य हस्त कौशल से है। एक सैद्धान्तिक है तो दूसरा व्यावहारिक। एक मानसिक है तो दूसरा शारीरिक। फिर भी इन दोनों के बीच प्रगाढ़ सम्बन्ध है। कला का उत्पादित रूप ही कारीगरी है और इसके संरक्षण एवं अभिवर्धन से ही संस्कृति एवं सभ्यता का पूर्ण विकास सम्भव है। प्रथम से तृतीय शताब्दियों के मध्य रचित संस्कृत बौद्ध ग्रंथ महावस्तु में शिल्प एवं शिल्पकारों की दो लम्बी–लम्बी तालिकायें मिलती हैं, जिनमें से एक में 68 और दूसरे में 78 शिल्प– शिल्पकारों का उल्लेख हुआ है। ये दोनों श्रेणी तालिकायें ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में शिल्प–शिल्पी और उनकी सामाजिक तथा आर्थिक जीवन दशा पर व्यापक प्रकाश डालती हैं।

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, नारी शिक्षा निकेतन महाविद्यालय, लखनऊ।

विभिन्न प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन से जिन शिल्प एवं शिल्पियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ का विवेचन करना अपेक्षित प्रतीत होता है –

चर्म शिल्प :– मानव विकास के इतिहास में चर्म शिल्प को सबसे प्राचीन शिल्प कला के अन्तर्गत माना जाता है। चर्म शिल्पियों का उल्लेख पूर्व वैदिक काल से ही प्राप्त होता है, जिनके लिये **चर्मन** शब्द का प्रयोग हुआ है। चर्मन शिल्पी धनुश की प्रत्यंचा, लटकाने का फन्दा, चमड़े की डोरी तथा लगाम आदि का निर्माण करते थे।[2] समूरदार पशुओं के चमड़े को विभिन्न प्रकार से बिछाने, ओढ़ने और पहनने के काम में लाया जाता था। चर्म शिल्पी को बौद्ध ग्रंथों में चम्मकार[3] शब्द से उद्‌बोधित किया गया है जो विभिन्न प्रकार के पशुओं जैसे व्याघ्र, सिंह, तेंदुआ आदि के चर्म से जूते बनाते थे।[4] जूतों के भिन्न–भिन्न आकारों[5] का वर्णन भी प्राप्त होता है। जैसे बिच्छू के डंक के आकार वाले जूते, मोर पंख वाले जूते, उल्लू पंख वाले जूते आदि। इन जूतों को लाल, नीले, पीले आदि रंगों से रंगा जाता था।[6] जूतों को बांधने के लिये चमड़े से ही विभिन्न प्रकार के फीते भी बनाये जाते थे।[7]

वस्त्र शिल्प :– भारतीय संस्कृति का दूसरा महत्वपूर्ण शिल्प वस्त्र शिल्प है। ऋग्वेद के एक मंत्र में वस्त्र शिल्पियों के लिये वासोवाय[8] शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है तथा महिला बुनकर के लिये सिरी[9] शब्द का प्रयोग किया गया है। नर्तकियों द्वारा कढ़े हुये वस्त्र पहनने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कढ़ाई का कार्य सम्भवतः स्त्रियों द्वारा ही किया जाता रहा होगा। उत्तर वैदिक काल में महिला बुनकर के लिये वयित्री शब्द का प्रयोग किया जाता था। चूंकि वस्त्र का निर्माण तन्तु[10](धागा) से होता है, अतः इस शिल्प से जुड़े शिल्पी को तन्तुवाय[11] अथवा जुलाहा भी कहा जाता था। कई स्थान अपने विशिष्ट वस्त्र उद्योग के लिये प्रसिद्ध हो चुके थे। कौटिल्य ने स्थानों के आधार पर 'मागाधिक'(मगध में निर्मित) 'काशिक'(काशी में निर्मित) इत्यादि में वस्त्रों का वर्गीकरण किया है।[12] काशी रेशम वस्त्रों के निर्माण के लिये प्रसिद्ध था। यहाँ के बनारसी साड़ियों के आकर्षक कढ़ाई को वास्तु

शिल्प के शिल्पियों ने भवन निर्माण में शिल्पाकिंत किया है। आचारांग सूत्र में रूई से बने वस्त्रों का उल्लेख मिलता है।[13]

प्रस्तर शिल्प :– पत्थरों को विभिन्न आकारों में तोड़कर उसे एक कलाकृति का रूप देना प्रस्तर शिल्प के अन्तर्गत आता है। इससे सम्बन्धित शिल्पी को **पाषाणकुट्टक** कहा जाता था। पत्थरों के कलात्मक स्तम्भ तथा कलात्मक दिवारें बनायी जाती थी।[14] पत्थरों को सुन्दर, सुघड़ और तीक्ष्ण रुप में काटकर भवन, प्रासाद, स्तूप तथा विहार आदि बनाये जाते थे। कभी–कभी पत्थरों को इतना नुकीला और तीक्ष्ण बनाते थे, जो किसी भी जानवर को मार सकता था।[15]

धातु शिल्प :– धातु शिल्प भी पर्याप्त रुप से महत्वपूर्ण था। समाज में 'लौहकार' और 'स्वर्णकार' दो पृथक वर्ग के रूप में अस्तित्व में थे।[16] पूर्व वैदिक युग में धातु शिल्पियों के लिये '**कर्मार**'[17] शब्द का प्रयोग किया गया है जो धातु को गलाकर दैनिक जीवन की उपयोगी वस्तुओं के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों का भी निर्माण करते थे। ऋग्वेद में भोजन बनाने का पात्र, प्याले, परशु और फाल[18] आदि वस्तुओं का उल्लेख है जिनका निर्माण कर्मार द्वारा किया जाता था। वैदिक साहित्य में **हिरण्यकार** शिल्पी का भी उल्लेख प्राप्त होता है[19] जो स्वर्ण से विभिन्न प्रकार के आभूषणों का निर्माण करते थे। अथर्ववेद में हिरण्य शब्द का तात्पर्य स्वर्ण आभूषणों से लगाया गया है।[20] अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण में भी स्वर्णाभूषणों के निर्माण का उल्लेख है। हल, छूरा, चाकू आदि विभिन्न वस्तुयें लोहार बनाता था। यही नहीं वह युद्ध सम्बन्धी अस्त्र–शस्त्र भी तैयार करता था।

बौद्ध काल में धातु शिल्प से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को **कम्मार** की संज्ञा भी दी जाती थी। ये (लोहार) लोहे के बड़े–बड़े पात्र बनाते थे। ऐसे ही एक पात्र में तेल भरकर बुद्ध के पार्थिव शरीर को रखा गया था।[21] लोहे का उपयोग क्षेत्र बड़ा होने के कारण लोहारों का कार्यक्षेत्र भी व्यापक था और इसी कारण इन्हें समाज में अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। दीघनिकाय में

उल्लिखित है कि चंण्ड कम्मारपुत्त के पास अपार धन और सघन आमकानन था, जिसमें बुद्ध ने विश्राम किया था तथा उसी के घर बुद्ध ने अपना अन्तिम भोजन भी ग्रहण किया था।[22]

चित्रांकन शिल्प :– प्राचीन भारतीय साहित्य में चित्रकला के बारे में जो वर्णन और वर्गीकरण प्राप्त होता है, वह आधुनिक परिभाषा और वर्गीकरण की कसौटी पर कसना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से वह परिभाषा और वर्गीकरण भ्रामक होगा।

वैदिक युग में भी चित्रकला का शिल्प के अन्तर्गत ही उल्लेख प्राप्त होता है। पाणिनी की अष्टाध्यायी में शिल्प के अन्तर्गत जिन कलाओं को समाहित किया गया है वे चित्रांकन, मूर्तिनिर्माण, नृत्य, संगीत अथा वाद्य आदि हैं जो ललित कला के अन्तर्गत आते है।[23] विश्व प्रसिद्ध अजन्ता के गुफा चित्र विश्व के सात आश्चर्यों में से एक माने गये हैं। अजन्ता में एक गुफा की छत में एक सफेद रंग का लम्बे बालों और नीली आँखों वाले कुत्ते का बच्चा चित्रांकित है। इसे आगे–पीछे, दायें–बायें किसी भी तरफ से देखने पर यह आपको ही देखता हुआ नजर आयेगा। इसी गुफा की एक पार्श्व दीवार पर चार मृगों को चित्रांकित किया गया है जिनके मुख एक ही है। आप जिस मृग के साथ उसे देखेगें वह उसी मृग का मुख प्रतीत होगा।

मृत्पात्र शिल्प :– कलाकारों में बहु चर्चित व्यक्तित्व कुम्भकार था। जो अपनी जीविका के लिये पूर्णतः मृत्पात्रों के निर्माण पर निर्भर था। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर कुम्भ[24] का उल्लेख प्राप्त होता है जिनका निर्माण कच्ची अथवा पक्की मिट्टी से कुम्भकार द्वारा किया जाता था। कालान्तर में अनेक ग्रन्थों में मिट्टी के बर्तन बनाने वाले के लिये **कुलाल**[25] अथवा **कौलाल**[26] शब्द का प्रयोग हुआ है। वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तनों का उल्लेख है जिससे पता चलता है कि पूर्व वैदिक काल में लोगों को मिट्टी के पात्र बनाने की जानकारी हो चुका थी। मज्झिमनिकाय में उल्लेख प्राप्त होता है कि कुम्भकार मिट्टी को अच्छी तरह से घोटते थे तत्पश्चात् उससे इच्छित बर्तनों का निर्माण करते थे।[27] कुम्भकार मिट्टी के बहुमुखी

उपयोग वाले बर्तनों का निर्माण करते थे और जनसाधारण से लेकर राजमहलों तक अपनी सेवा के लिये प्रसिद्ध थे। वे प्रायः शहर या गाँव से बाहर रहते थे, यह उनके कार्य के अनुकूल भी था, क्योंकि गाँव या शहर के मध्य रहते हुये उन्हें अच्छी कच्ची मिट्टी की प्राप्ति में कठिनायी हो सकती थी और स्थानाभाव के कारण वे अपने उद्योग का वांछित विस्तार भी नहीं कर सकते थे।

काष्ठ शिल्प :– लकड़ी को काटकर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करने वाले शिल्पकारों के लिये ऋग्वेद में 'तक्षण'[28] शब्द का प्रयोग किया गया है जिन्हें आधुनिक काल में बढ़ई कहा जाता है। पूर्व वैदिक युग में विभिन्न वस्तुओं के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें रथ[29], नौका तथा वाद्ययन्त्र[30] आदि प्रमुख है। बैलों तथा अश्वों द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी का निर्माण भी बढ़ई के द्वारा ही किया जाता था। काष्ठकार लकड़ी के छोटे–छोटे सामानों से लेकर तरह–तरह के वाहनों तक का निर्माण करते थे और इसके माध्यम से वे अपनी कलात्मक प्रतिभा का भरपूर परिचय देते थे। बौद्ध काल में भिक्षुओं के लिये धातु पात्रों (लोहे के पात्रों के छोड़कर) का व्यवहार वर्जित किया गया था अतः वे अपने उपयोग हेतु सभी प्रकार के लकड़ी के पात्रों का व्यवहार करते थे। घरेलू उपयोग के लिये बढ़ई काठ की पादुका का भी निर्माण करते थे। काठ की पादुका का व्यवहार भिक्षुओं के लिये वर्जित था।[31] आरामदेह पलंग, पालकी, कुर्सी, आसन आदि वस्तुओं का निर्माण भी बढ़ई के द्वारा किया जाता था। सम्पन्न बढ़इयों और लकड़ी के व्यापारियों को **दारूकाम्भिक** कहा गया है। उनके नाम के आगे **गहपति** शब्द मिलने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सर्वसाधन सम्पन्न थे।

प्राचीन भारत में शिल्पियों को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वेदों में उनको नमस्कार, सत्कार तथा आदर करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद[32] के 16वें अध्याय में उनके लिये निम्न प्रकार के सत्कार वचन कहे गये है–

1. न नमो रोहिताय स्थपतये– ऐश्वर्य वृद्धिकारक शिल्पाध्यक्ष के लिये सत्कार हो।
2. नमस्तक्षभ्य– शिल्पियों के लिये नमस्कार हो।
3. रथकारेभ्यश्च वो नमः – विविध प्रकार के रथ, यान आदि बनाने वाले के लिये नमस्कार हो।
4. नमः कुलालेभ्यः – मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कुम्हारों के लिये नमस्कार हो।
5. कर्मारेभ्यश्च वो नमः – लाहे के विविध प्रकार का कार्य करने वाले महापुरुषार्थी जन लुहारों के लिये नमस्कार हो।
6. नमो वास्तव्याय च – गृह निर्माण में कुशल के लिये नमस्कार हो।
7. नम इशुकृद्भ्य – बाण आदि प्रक्षेपणास्त्र बनाने वालों के लिये नमस्कार हो।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर अध्ययनोपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में शिल्पकारों तथा शिल्पकला का न केवल सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्व था, अपितु वे तत्कालीन अर्थव्यवस्था के मजबूत आधार स्तम्भ थे।

सन्दर्भ –

1. मालविकाग्निमित्र 1.6, मृच्छकटिकम् 3.5।
2. वाजसनेयी संहिता 1.33.6–10।
3. चुल्लवग्ग पृ0 205.18।
4. महावग्ग पृ0 204.25।
5. विनय पिटक हिन्दी अनुवाद पृ0 204।
6. महावग्ग पृ0 204.25, 205.3।
7. वही, पृ0 205.9–12।
8. ऋग्वेद 10.26.6।
9. वही, 1.126.1।
10. चुल्लवग्ग पृ0 225.8।

11. वही, पृ0 225.27 ।
12. अर्थशास्त्र पृ0 81–85 ।
13. आचारांग सूत्र 2.5.1.14 ।
14. चुल्लवग्ग 5.17.2 ।
15. बब्बु जातक 1.478.479 ।
16. बौधायन श्रौत सूत्र 6.13 ।
17. अविनाश चन्द्र दास, ऋग्वैदिक कल्चर, कलकत्ता, 1925, पृ0 212 ।
18. ऋग्वेद 9.11.22, 10.30.15, 1.162.20, 1.58.4 ।
19. ऋग्वेद 1.43.5 ।
20. अथर्ववेद 20.15.2 ।
21. दीघनिकाय द्वितीय 3.24.103 ।
22. वही, 3.19.62 ।
23. अष्टाध्यायी : पाणिनी 3.1.146, 3.2.55 ।
24. ऋग्वेद 4.32.19 ।
25. वही, 6.2.8 ।
26. वाजसनेयी संहिता 16.27 ।
27. मज्झिमनिकाय द्वि, 27.3.20 ।
28. ऋग्वेद 10.97.20 ।
29. वैदिक इण्डेक्स, भाग–2, पृ0 118 ।
30. ऋग्वेद 10.85.10, 3.53.20 ।
31. महावग्ग 5.7.15 ।
32. यजुर्वेद 16.19–46 ।